

डा० हरिन्द्रभूषण जैन

एम० ए०, पी-एच० डी, साहित्याचार्य

प्राचीन भारत की जैन शिक्षण-पद्धति

भारत में प्राचीन काल से ही ज्ञान की अतिशय प्रतिष्ठा रही है। व्यक्तित्व के विकास की दिशा में ज्ञान को सदैव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। मानव-जीवन की सफलता, मनुष्य के ज्ञान की मात्रा पर ही अवलम्बित होती है। शतपथ ब्राह्मण में ज्ञान की प्रतिष्ठा को प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि 'स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है, वह स्वतन्त्र बन जाता है, उसे नित्य धन प्राप्त होता है, वह सुख से सोता है, उसका इन्द्रियों पर संयम होता है। उसकी प्रज्ञा बढ़ जाती है और उसे यश मिलता है।'

जैनागमों में भी ज्ञान की महिमा स्वीकार की गई है। उत्तराध्ययन में निम्नलिखित संवाद से ज्ञान के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। शिष्य ने पूछा : 'हे पूज्य ! ज्ञानसंपन्नता से जीव को क्या लाभ होता है ?' गुरु ने उत्तर दिया : 'हे भद्र ! ज्ञानसम्पन्न जीव समस्त पदार्थों का यथार्थभाव जान सकता है। यथार्थभाव जानने वाले जीव को चतुर्गतिमय इस संसार रूपी अटवी में कभी दुःखी नहीं होना पड़ता। जैसे धागेवाली सूई खोती नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव संसार में पथभ्रष्ट नहीं होता और ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है तथा स्वपरदर्शन को बराबर जानकर असत्यमार्ग में नहीं फँसता।'

ज्ञान की इस महत्त्वपूर्ण स्थिति के बाद यह आवश्यक था कि ज्ञान सर्वसाधारण को सुलभ हो। इसके लिये भारत में प्राचीन काल से ही शिक्षण-पद्धति पर विशेष ध्यान दिया गया है। वैदिक, बौद्ध और जैन-तीनों संस्कृतियों में शिक्षण की अपनी विशेष परम्पराएँ रही हैं। आजकल के विद्वानों ने भी वैदिक और बौद्ध शिक्षण-पद्धतियों के विषय में पर्याप्त लिखा है।

जैन शिक्षण-पद्धति के विषय में हमें जैन-आगमों में यत्र-तत्र अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। जैन-शिक्षण-पद्धति से संबंधित इन उल्लेखों को एकत्रित करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि निःसंदेह भारतवर्ष में प्राचीनकाल में एक अत्यन्त सुव्यवस्थित जैन शिक्षण-पद्धति थी।

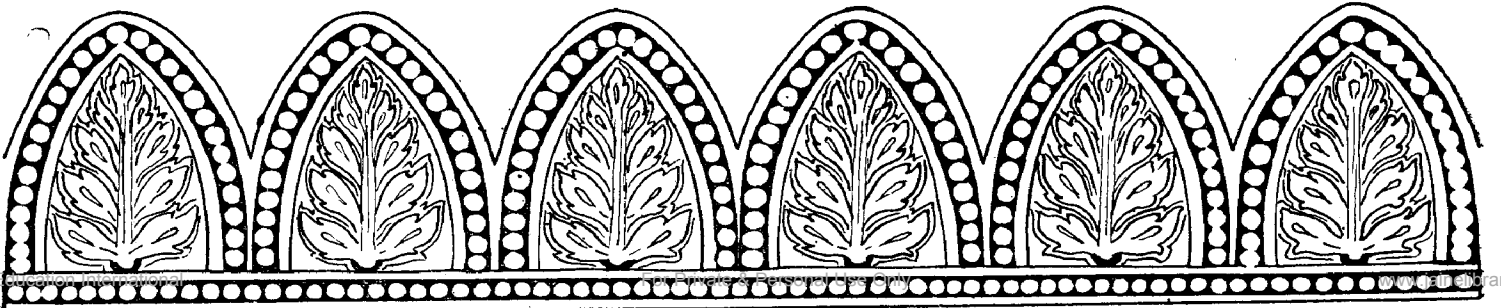
जैन तथा बौद्ध शिक्षण-पद्धतियों में प्रायः साम्य है। इसका प्रधान कारण यह है कि दोनों धर्मों में ज्ञान का प्रसार करने का श्रेय उन मुनियों अथवा भिक्षुओं को है जो कि गृहस्थ-आश्रम से दूर रहकर अपना समस्त जीवन ज्ञान के दान और आदान में ही व्यतीत किया करते थे, बौद्ध तथा जैनधर्म इन दोनों धर्मों के धार्मिक विचारों की निकटता भी दोनों शिक्षण-पद्धतियों की समानता का एक अन्य कारण हो सकती है।

अब हम तुलनात्मक रीति से प्राचीन भारत की जैनशिक्षण-पद्धति पर विचार करते हैं।

शिक्षा का उद्देश्य—प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य सदाचार की वृद्धि, व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों की शिक्षा देना था।^१

छात्र जीवन—ब्राह्मण संस्कृति के अनुसार बालक का विद्यार्थी-जीवन, उपनयन-संस्कार से प्रारम्भ होता था। अंग-शास्त्र में भी उपनयन (उवणयण) संस्कार का वर्णन है। टीकाकार अभयदेव ने उपनयन का अर्थ 'कलाग्रहण' किया

१. Education in Ancient India, by Altekar पृ० ३२६.



है. 'कला' का अर्थ विद्या है. विद्या ग्रहण के पूर्व जो उत्सव मनाया जाता था उसे 'उपनयन' कहा गया है.^१ उपनयन के बाद माता-पिता अपने पुत्र को कलाचार्य (विद्यागुरु) के साथ भेज देते थे.

प्रायः छात्र अपने आचार्यों के घर पर रहकर विद्याध्ययन किया करते थे. कुछ धनी लोग नगर में भी छात्रों को भोजन तथा निवास देकर उनके अध्ययन में सहायक होते थे.^२ छात्र तथा आचार्यों के सम्बन्ध कभी-कभी वैवाहिक संबंधों के सुन्दर रूप में भी परिणत हो जाते थे.^३

अवकाश के समय आश्रम बन्द हो जाते थे. अकाल-मेषों के आ जाने पर, गर्जन, बिजली का चमकना, अत्यधिक वर्षा, कोहरा, धूल के तूफान, चन्द्र-सूर्य-ग्रहण आदि के समय प्रायः अवकाश हो जाया करता था. दो सेनाओं अथवा दो नगरों में आपस में युद्ध द्वारा नगर की शान्ति भंग हो जाने पर, मल्लयुद्ध के समय तथा सम्मान्य नेता की मृत्यु हो जाने पर भी अध्ययन बन्द कर दिया जाता था. कभी-कभी बिल्ली द्वारा चूहे का मारा जाना, रास्ते में अण्डे का मिल जाना, जिस जगह आश्रम है उस मुहल्ले में बच्चे का जन्म होना आदि कारणों से भी विद्याध्ययन का कार्य बन्द कर दिया जाता था.^४

अध्ययन-काल—वैदिक युग में ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ १२ वर्ष की अवस्था में होता था. १२ वर्ष की अवस्था से लेकर जब तक वेदों का अध्ययन चलता रहता था तब तक विद्यार्थी पढ़ते रहते थे. बौद्ध संस्कृति में भी कोई गृहस्थ अपने कुटुम्ब का परित्याग करके (किसी भी अवस्था का होने पर भी) बुद्धसंघ और बुद्ध की शरण में जाकर विद्याध्ययन में लग सकता था.

शास्त्र के अनुसार बालक का अध्ययन कुछ अधिक आठ वर्ष से प्रारम्भ होता था और जब तक वह कलाचार्य के निकट सम्पूर्ण ७२ कलाओं का अथवा कुछ कलाओं का अध्ययन नहीं कर लेता था तब तक अध्ययन करता रहता था.^५

विद्या के अधिकारी—वैदिक काल में जिन विद्यार्थियों की अभिरुचि अध्ययन के प्रति होती थी, आचार्य प्रायः उन्हीं को अपनाने थे. जिन विद्यार्थियों की प्रतिभा, ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होती थी उन्हें फाल और हल या ताने-बाने के काम में लगना पड़ता था.^६

जैनाचार्यों ने विद्यार्थी की योग्यता के लिये उसका आचार्य-कुल में रहना, उत्साही, विद्याप्रेमी, मधुरभाषी तथा शुभकर्मा होना आवश्यक बतलाया है.^७ आज्ञा उल्लंघन करने वाले, गुरुजनों के हृदय से दूर रहने वाले, शत्रु की तरह विरोधी तथा विवेकहीन शिष्य को 'अविनीत' कहा गया है.^८ इसके विपरीत जो शिष्य गुरु की आज्ञा पालन करने वाला है, गुरु के निकट रहता (अन्तेवासी) है, तथा अपने गुरु के इंगित-मनोभाव तथा आकार का जानकार है उसे 'विनीत' कहा गया है.^९

शिष्य के लिये वाचाल, दुराचारी, क्रोधी, हंसी-मजाक करने वाला, कठोर वचन बोलने वाला, विना सोचे उत्तर देने वाला, पूछने पर असत्य उत्तर देने वाला, गुरुजनों से वैर करने वाला नहीं होना चाहिए.^{१०} उत्तराध्ययन में शिष्य के

१. भगवती सूत्र, ११, ११, ४२६ पृ० ६६६—अमयदेव वृत्ति.

२. उत्तराध्ययन टीका, ८, पृ० १२४.

३. वही, १८; पृ० २४३.

४. व्यवहारभाष्य, ७. २८१-३१६.

५. नायाधम्मकहास्यो, १, २०. पृ० २१.

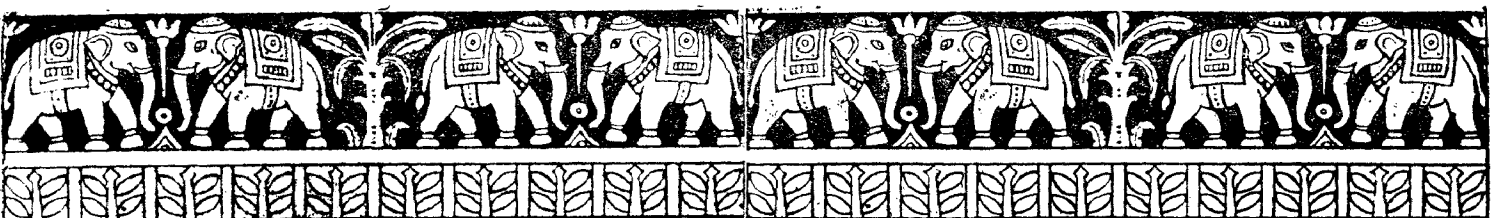
६. छान्दोग्य उपनिषद्, ६. १. २.

७. उत्तराध्ययन, ११. १४.

८. वही,

९. वही, १. २.

१०. वही, १. ४, ६, १३, १४, १७.



लिये निम्नप्रकार विधान बताया गया है—“शिष्य को गुरुजनों की पीठके पास अथवा आगे पीछे नहीं बैठना चाहिए. उसे गुरु के इतने पास भी नहीं बैठना चाहिए कि जिससे अपने पैरों का उनके पैरों से स्पर्श हो. शय्या पर लेटे-लेटे अथवा अपनी जगह पर बैठे-बैठे गुरु को कभी प्रत्युत्तर नहीं देना चाहिए. गुरुजनों के समक्ष पैर पर पैर चढ़ा कर, अथवा घुटने छाती से लगाकर तथा पैर फैलाकर कभी नहीं बैठना चाहिए. यदि आचार्य बुलावे तो शिष्य को कभी भी मौन नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत मुमुक्षु एवं गुरु-कृपेच्छु शिष्य को तत्काल ही उनके पास जाकर उपस्थित होना चाहिए. गुरु के आसन से जो आसन ऊंचा न हो तथा जो शब्द न करता हो, ऐसे स्थिर आसन पर शिष्य को बैठना चाहिए. आचार्य का कर्तव्य है कि ऐसे विनयी शिष्य को सूत्र और उनका भावार्थ उसकी योग्यता के अनुसार समझावे.^१

उत्तराध्ययन में गुरु तथा शिष्य के परस्पर संबंध पर भी प्रकाश डाला गया है : ‘जैसे अच्छा घोड़ा चलाने में सारथि को आनन्द आता है वैसे चतुर साधक के लिये विद्यादान करने में गुरु को आनन्द आता है. और जिस तरह अड़ियल टट्टू को चलाते-चलाते सारथि थक जाता है वैसे ही मूर्ख शिष्य को शिक्षण देते-देते गुरु भी हतोत्साहित हो जाता है. पापदृष्टि वाला शिष्य, कल्याणकारी विद्या प्राप्त करते हुए भी गुरु की चपतों तथा भर्त्सनाओं को वध तथा आक्रोश (गाली) मानता है. सुशील शिष्य तो यह समझकर कि गुरु मुझको अपना पुत्र, लघुभ्राता अथवा स्वजन के समान मानकर ऐसा कर रहे हैं. यह गुरु की शिक्षा (दण्ड) को अपने लिये कल्याणकारी मानता है. पापदृष्टि रखने वाला शिष्य उस दशा में अपने को दास मानकर दुःखी होता है. कदाचित् आचार्य क्रुद्ध हो जाएँ तो शिष्य अपने प्रेम से उन्हें प्रसन्न करे, हाथ जोड़कर उनकी विनय करे तथा उनको विश्वास दिलावे कि वह भविष्य में वैसा अपराध कभी नहीं करेगा.^२

योग्य छात्र वही था जो अपने आचार्य के उपदेशों पर पूर्ण ध्यान दे, प्रश्न करे, अर्थ समझे तथा तदनुसार आचरण करने का भी प्रयत्न करे.^३ योग्य छात्र कभी भी गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते थे, गुरु से असद्व्यवहार नहीं करते थे और झूठ नहीं बोलते थे.

अयोग्य विद्यार्थी भी हुआ करते थे. वे सदैव गुरु से हस्तताड़न अथवा पाद-ताड़न (खंडुया, चपेड़ा) प्राप्त किया करते थे. कभी वेत्रताड़न भी प्राप्त किया करते थे तथा बड़े कठोर शब्दों से संबोधित किए जाते थे. अयोग्य विद्यार्थियों की तुलना दुष्ट बालों से की गई है. वे गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करते थे. कभी-कभी गुरु ऐसे छात्रों से थक कर उन्हें छोड़ भी देते थे.^४

छात्रों की तुलना पर्वत, घड़ा, चालनी, छन्ना, राजहंस, भैंस, मेंढा, मच्छर, जोंक, बिल्ली, गाय, ढोल आदि पदार्थों से की गई है जो उनकी योग्यता और अयोग्यता की ओर संकेत करते हैं.^५

शूद्रों का विद्याधिकार—वैदिक काल में आर्येतर जातियों द्वारा, आर्यभाषा और आर्य-संस्कृति में निष्णात होकर वैदिक शिक्षा पर रोक प्रधानतः स्मृतिकाल में लगी. उनके लिए सदा से ही पुराणों के अध्ययन की सुविधा थी. जातक-काल में ऐसे अनेक शूद्र और चाण्डाल हो चुके हैं जो उच्चकोटि के दार्शनिक और विचारक थे.^६ मुत्तानिपात के अनुसार मातंगनामक चाण्डाल तो इतना बड़ा आचार्य हो गया कि उसके यहां अध्ययन करने के लिए अनेक उच्चवर्ण के लोग आया करते थे.

जैन-संस्कृति में, चाण्डालों तक का दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना सम्भव था. उत्तराध्ययन में हरिकेशबल नामक

१. उत्तराध्ययन, १. १८-२३.

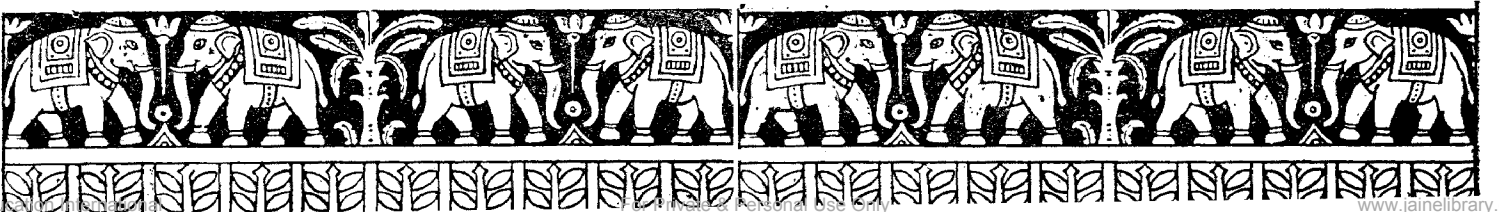
२. वही, १. ३७-४१.

३. आवश्यक नियुक्ति (२२)

४. उत्तराध्ययन. २७, ८, १३, १६.

५. आवश्यक नियुक्ति, १३६, आवश्यक चूर्ण पृ० १२१-१२५. बृहत्कल्पभाष्य, पृ० ३३४-

६. सतुजातक, ३७७.



चाण्डाल की चर्चा आती है जो स्वयं ऋषि बन गया था और सभी गुणों से अलंकृत हुआ.^१ जैनशास्त्रों में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि वर्ण-व्यवस्था जन्मगत नहीं, कर्मगत है. 'कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है.'^२

आचार्य और उनका व्यक्तित्व—ऋग्वैदिक आचार्य, जिसके दिव्य प्रतीक अग्नि और इन्द्र हैं, तत्कालीन ज्ञान और आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से समाज में सर्वोच्च व्यक्ति थे. आचार्य विद्यार्थी को ज्ञानमय शरीर देता था. वह स्वयं ब्रह्मचारी होता था और अपने ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के बल पर असंख्य विद्यार्थियों को आकर्षित कर लेता था.^३

जैन आचार्यों पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थकरों की छाप रही है. वे अपना जीवन और शक्ति, मानवता को सत्पथ दिखाने के प्रयत्न में ही लगा देते थे.^४ आचार्य के आदर्श व्यक्तित्व की, जैन-संस्कृति में, जो रूपरेखा बनी वह इस प्रकार थी : 'वह सत्य को नहीं छिपाता था और न उसका प्रतिवाद करता था. वह अभिमान नहीं करता था और न वह यश की कामना करता था. वह कभी भी अन्यधर्मों के आचार्यों की निन्दा नहीं करता था. सत्य भी, कठोर होने पर उसके लिये त्याज्य था. वह सदैव सद्बिचारों का प्रतिपादन करता था. शिष्य को डांट-डपट कर या अपशब्द कहकर वह काम नहीं लेता था. वह धर्म के रहस्य को पूर्णरूप से जानता था. उसका जीवन तपोमय था. उसकी व्याख्यानशैली शुद्ध थी. वह कुशल विद्वान् और सभी धर्मों का पण्डित होता था.'^५

'रायपसेणिय सूत्र' में तीन प्रकार के आचार्यों का वर्णन है :

१—कलायारिय—कला के अध्यापक.

२—सिप्पायारिय—शिल्प के अध्यापक.

३—धम्मायारिय—धर्म के अध्यापक.

यह विधान था कि प्रथम तो आचार्यों के शरीर पर तेल का मर्दन किया जाय, उन्हें पुष्प भेंट किये जाएं, उन्हें स्नान कराया जाय, उन्हें सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित किया जाय, उन्हें सुस्वादु भोजन कराया तथा उन्हें योग्य पारिश्रमिक और पारितोषिक दिया जाय. मगर धर्माचार्य की बात कुछ और तरह की है. भोजन, पान आदि के द्वारा योग्य सम्मान करके उन्हें विविध प्रकार के उपकरणों से संतुष्ट किया जाता था.^६ वह भी बदला चुकाने के लिये नहीं, केवल भक्तिवश ही.

अध्ययन और उसके विषय—वैदिक शिक्षण के आदिकाल से ऋग्वेद का अध्ययन और अध्यापन सर्वप्रथम रहा है. वेद के अतिरिक्त वेदांग, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण तथा ज्योतिष का महत्त्व भारतीय विद्यालयों में सदैव रहा है.

'भगवती सूत्र' में अध्ययन के विषय निम्न प्रकार बतलाए गए हैं :

६ वेद. ६ वेदांग तथा ६ उपांग.

६ वेद इस प्रकार हैं—१ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद, ३ सामवेद, ४ अथर्ववेद, ५ इतिहास(पुराण) तथा ६ निघण्टु.

६ वेदांग इस प्रकार हैं—१ संखान (गणित), २ सिक्खाकप्प (स्वर-शास्त्र), ३ वागरण (व्याकरण), ४ छंद, ५ निरुक्त (शब्दशास्त्र) तथा ६ जोइस (ज्योतिष). ६ उपांगों में प्रायः वेदांगों में वर्णित विषयों का और अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन था.^७

१. उत्तराध्ययन १२ १.

२. वही, २५. ३३.

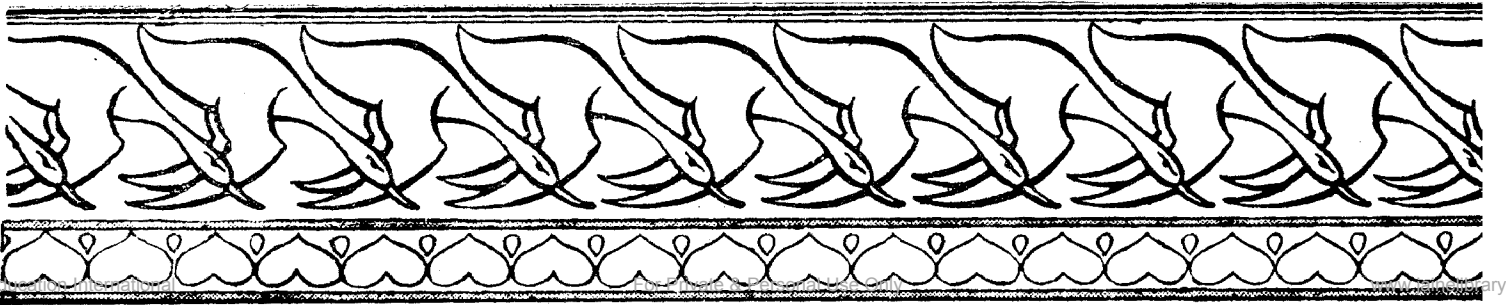
३. अथर्ववेद, ११. ५, १३.

४. आरा १, ६, ५. २-४.

५. सूत्रकृतांग १.१४, १६-२७.

६. स्थानांग, ३. १३५.

७. स्थानांग, ३. ३. १८५. 'जैन परम्परा के अनुसार वेद दो प्रकार के हैं—१ आर्यवेद और २ अनार्यवेद. आर्यवेदों की रचना भरत तथा



उत्तराध्ययन-टीका में निम्न प्रकार १४ विद्यास्थान (अध्ययन के विषय) बताए गए हैं^१—४ वेद, ६ वेदांग, मीमांसा, नाय (न्याय), पुराण तथा धम्मसत्थ (धर्मशास्त्र)।

कुछ ऐसे भी विषय थे जिनका पठन-पाठन की दृष्टि से निम्न स्थान था ऐसे विषय संसारत्यागी साधुजनों के लिये पाप-श्रुत कहे जाते थे. स्थानाङ्ग सूत्र में ऐसे पापश्रुतों का वर्णन है ! उनकी संख्या नौ है^२.

१. उप्पाय (अपशकुन-विज्ञान) २. निमित्त (शकुन-विज्ञान) ३. मन्त (मन्त्र विद्या) ४. आइक्खिय (नीच-इन्द्रजालविद्या) ५. तेगिच्छिय (चिकित्सा-विज्ञान) ६. कला (कला-विज्ञान) ७. आवरण (गृह-निर्माण-विज्ञान) ८. अण्णाण (साहित्य-विज्ञान-काव्य-नाटकादि) ९. मिच्छापवयण (असत्य शास्त्र)।

अंग शास्त्र में ७२ कलाओं का वर्णन मिलता है.^३ यद्यपि सभी छात्र इन समस्त कलाओं में निपुणता प्राप्त नहीं करते थे फिर भी अपनी शक्ति के अनुसार इन कलाओं में दक्षता प्राप्त करना प्रत्येक छात्र का उद्देश्य होता था.

ये कलायें १३ भागों में विभक्त हैं :

१. पठनकला—लेह (लेख) और गणित.
२. काव्यकला—पोरेकव्व (कविता निर्माण) अज्जा (आर्या छन्द में कविता या निर्माण), पहेलियां (पहेलिका का निर्माण), माग्धिया (माग्धी भाषा में काव्यनिर्माण), गाथा (गाथाछन्द में काव्य निर्माण) गीइय (गीतों का निर्माण) तथा सिलोय (श्लोकों का निर्माण)
३. मूर्तिनिर्माण काल—रूप (रूप)
४. संगीतविज्ञान—नट्ट (नृत्य), गीय (संगीत), वाइय (वाद्य), सरगम, पुक्खरगय (ढोल वादन) तथा ताल.
५. मृत्तिकाविज्ञान—दगमट्टिय.
६. द्यूतक्रीडा तथा गृह क्रीडा—जुआ (द्यूत) जणवाय (अन्य प्रकारका जुआ). पासय (पासों का खेल), अट्टावय (शतरंज) सुत्तखेड कठपुतली का नाच वत्थ (भोरें का खेल) तथा नालिकाखेड (अन्य प्रकार के पासों का खेल).
७. स्वास्थ्व, श्रृङ्गार तथा भोजनविज्ञान—अन्नविहि (भोजन विज्ञान), पाणविहि (पान), वत्थविहि (वस्त्र) विले-वन (शृंगार) सयण (शय्या विज्ञान), हिरण्ण जुति (चांदी के आभूषणों का विज्ञान) सुवण्ण (सोने के आभूषणों का विज्ञान), आभरणविहि (आभूषणों का विज्ञान), चुण्णजुति (शृंगारचूर्ण विद्या), तरूणी-पडिकम्म (तरुणियों के शरीर को सुन्दर बनाने की विधि), पत्तच्छेज्ज (पत्रों से सुन्दर आभूषण बनाना) तथा कडच्छेत्ता (भाल का सजाना)
८. चिह्नविज्ञान-लक्षण—इसमें चिह्नों के द्वारा स्त्री, पुरुष, घोड़ा, हाथी, गाय, मुर्गा, दासी, तलवार, रत्न तथा छत्र के भेद को जानना सम्मिलित था.
- शकुनि-विज्ञान—इसमें पक्षियों की बोलियों का ज्ञान आवश्यक था.
१०. खगोलविद्या—चार (ग्रहों के चलन) तथा पडिचार (प्रतिचलन) की विद्या.

अन्य आचार्यों ने की. इनमें तीर्थंकरों के यशोगान तथा श्रमण एवं उपासकों के कर्त्तव्यों का वर्णन था. बाद में सुलसा, याज्ञवल्क्य आदि ने अनार्यवेदों की रचना की.' आवश्यक चूर्ण, २१५.

१. उत्तराध्ययन टीका, ३ पृ० ५६ अ०

२. स्थाना सूत्र, ६, ६७८.

३. नायाम्भमकहाओ, १, २०, पृ० २१,



११. रसायनशास्त्र—इसमें सोना (सुवर्णपाग) चांदी (हिरण्य) को बनाना तथा नकली धातुओं को असली हालत में परिवर्तित करना (सजीव) तथा असली धातु को नकली धातु बनाना (निज्जीव) सम्मिलित था.

१२. गृह-विज्ञान—इसमें मकान बनाना (वत्युविज्जा), नगरों तथा जमीन को नापना (नगरारमण खन्धारणम) सम्मिलित थे.

१३. युद्धविज्ञान—इसमें जुद्ध (युद्ध), निजुद्ध (कुशती) जुद्धातिजुद्ध (चोरयुद्ध) दिट्ठीजुद्ध (दृष्टि युद्ध), मुट्ठीजुद्ध (मुष्टि युद्ध), बाहुयुद्ध, लयाजुद्ध, मल्ल युद्ध इत्येव (तीर विज्ञान), चरूपवाय (असि विज्ञान), धनुर्वेद्य (धनुर्विज्ञान), बृह (व्यूहविज्ञान), पडिवृह (प्रतिव्यूह विज्ञान), चक्रव्यूह (चक्रव्यूह विज्ञान), गरुडव्यूह (गरुडव्यूह विज्ञान), तथा सगड-व्यूह (शकटव्यूह विज्ञान) सम्मिलित थे.

शिक्षण विधि—वैदिक काल में प्रारम्भ से ही सूत्रों को कण्ठाग्र करने की रीति थी. उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित की अभिव्यक्ति वाणी के साथ ही साथ हाथ की गति से भी की जाती थी. वैदिक मन्त्रों को कंठस्थ करने के लिये तथा उनके पाठ में किसी प्रकार की त्रुटि न होने देने के लिये विविध प्रकार के पाठ होते थे. जैसे-संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, घन-पाठ, जटा-पाठ आदि.

जैन-शिक्षण-पद्धति का श्रेय महावीर को है. महावीर ने कहा था कि 'जैसे पक्षी अपने शावकों को चारा देते हैं वैसे ही शिष्यों को नित्य प्रति, दिन और रात शिक्षा देनी चाहिए'.^१ यदि शिष्य संक्षेप में कुछ समझ नहीं पाता था तो आचार्य व्याख्या करके उसे समझाता था. आचार्य, अर्थ का अनर्थ नहीं करते थे. वे अपने आचार्य से प्राप्त विद्या को यथावत् शिष्य को ग्रहण कराने में अपनी सफलता मानते थे. वे व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बातें नहीं करते थे.^२

परवर्ती युग में शास्त्रों के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ. विद्यार्थी, शास्त्रों का पाठ करते समय शिक्षक से पूछ कर सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेता था और इस प्रकार अपना सदेह दूर करता था. विद्यार्थी बार-बार आवृत्ति करके अपने पाठ को कंठस्थ कर लेता था. फिर वह पढ़े हुए पाठ का मनन और चिन्तन करता था.^३ प्रश्न पूछने से पहले विद्यार्थी आचार्य के समक्ष हाथ जोड़ लेता था.^४

जैन शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के पांच अंग थे—१. वाचना (पढ़ना), २. पृच्छना (पूछना), ३. अनुप्रेक्षा (पढ़े हुए विषय का मनन करना), ४. आमनाय (कण्ठस्थ करना और पाठ करना) तथा ५. धर्मोपदेश.^५

अनुशासन—वैदिक युग में आचार्य विद्यार्थी को प्रथम दिन ही आदेश देता था कि 'अपना काम करो, कर्मठता ही शक्ति है, अग्नि में समिधा डालो, अपने मन को अग्नि के समान ओजस्विता से समद्धि करो, सो ओ मत.'^६

जैन शिक्षण में भिक्षुओं के लिये शारीरिक कष्ट का अतिशय महत्त्व बताया गया है. व्रतभंग के प्रसंग साधु को मरना तक श्रेयस्कर बताया गया है. जैन शिक्षण में शरीर की बाह्य शुद्धि को केवल व्यर्थ ही नहीं अपितु अनर्थ-कार्य बताया गया है. शरीर का संस्कार करने वाले श्रमण 'शरीर बकुश' (चरित्रभ्रष्ट) कहलाते थे.^७

परवर्ती युग में विद्यार्थियों के लिये आचार्य की आज्ञा पालन करना, डांट पड़ने पर उसे चुपचाप सह लेना, भिक्षा में स्वादिष्ट भोजन न लेना आदि नियम बनाये गये. विद्यार्थी सूर्योदय के पहले जागकर अपनी वस्तुओं का निरीक्षण करते

१. आचारंग, १. ६. ३. ३.

२. सूत्रकृतांग, १. १४. २४-२७.

३. उत्तराध्ययन, २६. १८. तथा १. १३.

४. उत्तराध्ययन १. २२.

५. स्थाना, ४६५.

६. शतपथब्राह्मण, ११. ५. ४. ५.

७. स्थाना, ४४५ तथा १५८.



थे. और गुरुजनों का अभिवादन करते थे. दिन के तीसरे पहर में वे भिक्षा मांगते थे. और रात्रि के तीसरे पहर में सोते थे. विद्यार्थी भूल में किये गये अपराधों का प्रायश्चित्त करते थे.^१

जैन संस्कृति के विद्यार्थी ऊन, रेशम, क्षीम, सन, ताड़पत्र आदि के बने हुए वस्त्रों के लिये गृहस्थ से याचना करते थे. वे चमड़े के वस्त्र या बहुमूल्य रत्न या स्वर्णजटित अलंकृत वस्त्रों को ग्रहण नहीं करते थे. हट्टे-कट्टे विद्यार्थी भिक्षु एक, और भिक्षुणियां चार वस्त्र पहिनती थी.^२

समावर्तन—वैदिक काल में अध्ययन समाप्त हो जाने पर विद्यार्थी आचार्य की अनुमति से घर लौट जाते थे. समावर्तन का अर्थ है 'लौटना'. आश्रम छोड़ते समय आचार्य विद्यार्थी को कुछ ऐसे उपदेश देता था जो उसके भावी जीवन की प्रगति में सहायक होते थे.

जैन-सूत्रों में भी समावर्तन संस्कार का वर्णन मिलता है. छात्र जब अध्ययन समाप्त कर घर वापस आता था तब अत्यन्त समारोह के साथ उसे ग्रहण किया जाता था. 'रक्षित' जब पाटलिपुत्र से अध्ययन समाप्त कर घर वापस आया तो उसका राजकीय सम्मान किया गया. सारा नगर पताकाओं और बन्दनवारों से सुसज्जित किया गया. रक्षित को हाथी पर बिठाया गया तथा लोगों ने उसका सत्कार किया. उसकी योग्यता पर प्रसन्न होकर लोगों ने उसे दास, पशु तथा स्वर्ण आदि द्रव्य दिया.^३

विद्या के केन्द्र—वैदिक काल में प्रायः प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ का घर विद्यालय होता था,^४ क्योंकि गृहस्थ के पाँच यज्ञों में ब्रह्म-यज्ञ की पूर्ति के लिये गृहस्थ को अध्यापन कार्य करना आवश्यक था.^५ जिन वनों, पर्वतों और उपनद प्रदेशों को लोगों ने स्वास्थ्य-संवर्धन के लिये उपयोगी माना वे स्थान आचार्यों ने अपने आश्रम और विद्यालयों के उपयोग के लिये चुने. महाभारत में कण्व, व्यास, भारद्वाज और परशुराम आदि के आश्रमों के वर्णन मिलते हैं.^६ रामायण-कालीन चित्रकूट में वाल्मीकि का आश्रम था.^७

जैन-संस्कृति की आचार्य परम्परा तीर्थङ्करों से प्रारम्भ होती है. तीर्थङ्कर प्रायः अनगर होते थे. अंतिम तीर्थङ्कर महावीर का दिग्म्बर होना प्रसिद्ध है. ऐसे तीर्थङ्करों की शाला का भवनों में होना संभव नहीं था. उनके शिष्यसंघ आचार्यों के साथ ही, देश-देशान्तर में पर्यटन करते थे. महावीर के जो ग्यारह गणधर (शिष्य) थे वे सब आचार्य थे. उनमें इन्द्रभूति, वायुभूति, व्यक्त तथा सुधर्मा के प्रत्येक के ५०० शिष्य थे, मण्डिक तथा मौर्यपुत्र के प्रत्येक के ३५० शिष्य थे और अकम्पित, अचलभ्राता, मेलार्य तथा प्रभास के प्रत्येक के ३०० शिष्य थे. ये भ्रमण करते हुए संयोगवश महावीर से मिले तथा उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपने शिष्यों सहित उनके संघ में सम्मिलित हो गये.^८

शनैः शनैः जैन मुनियों तथा आचार्यों के लिये गुफा-मन्दिर तथा तीर्थक्षेत्र के मन्दिर आदि बनने लगे. इसके बाद राज-धानियों, तीर्थस्थान, आश्रम तथा मन्दिर शिक्षा के केन्द्र बने. राजा तथा जमींदार लोग विद्या के पोषक तथा संरक्षक थे. समृद्ध राज्यों की अनेक राजधानियाँ बड़े-बड़े विद्या के केन्द्रों के रूप में परिणत हुई.

बनारस विद्या का विशाल केन्द्र था. संखपुर का राजकुमार अगडदत्त, वहाँ विद्याध्ययन के लिये गया था. वह अपने

१. उत्तराध्ययन, २६.

२. आचारांग, सूत्र, २. ५. १. १.

३. उत्तराध्ययन टीका, २ पृ० २२ अ०.

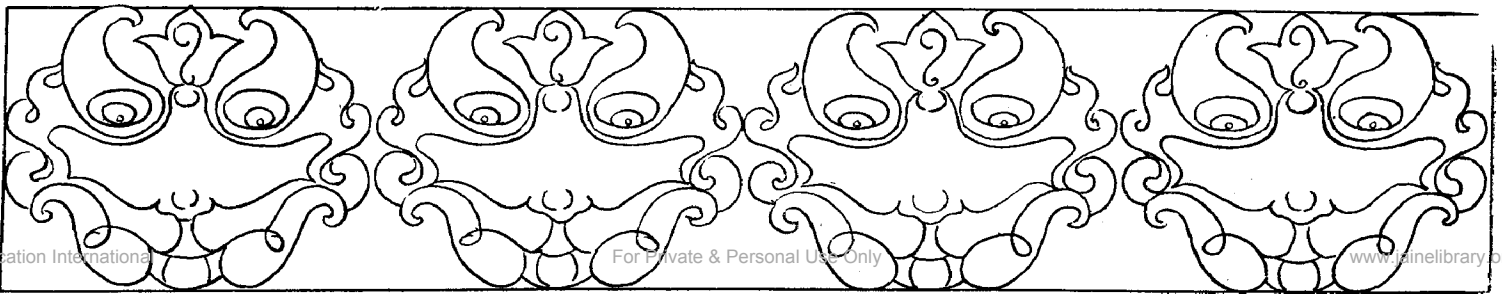
४. छान्दोग्य उपनिषद्, ८. १५. १. ४. ६. १. तथा २. २३. १.

५. "अध्यपनं ब्रह्म १." मनुस्मृतिः, ३. ७०.

६. आदिपर्व, ७०.

७. रामायण, २. ५६. १६.

८. कल्पसूत्र 'लिस्ट आफ् स्थविराज' 'श्रमण भगवान् महावीर' पृ० २११-२२०.

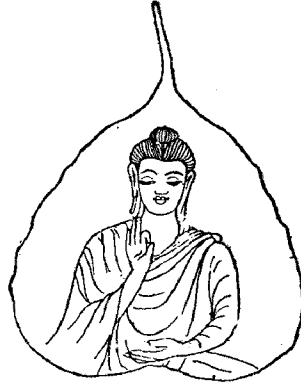


आचार्य के आश्रम में रहा और अपना अध्ययन समाप्त कर लौटा. सावत्थी (श्रावस्ती), एक अन्य विद्या का केन्द्र था. पाटलिपुत्र भी विद्या का केन्द्र था. 'रक्खिय' जब अपने नगर दशपुर में अध्ययन न कर सका तो वह उच्च शिक्षा के लिये, पाटलिपुत्र गया. 'प्रतिष्ठान' दक्षिण में विद्या का केन्द्र था. 'बलमी' शिक्षा केन्द्र के रूप में ख्याति की चरम सीमा पर था. यहीं पर जैन आगमों को संगृहीत करने के लिये नागार्जुनसूरि ने जैन-सन्तों की एक सभा बुलाई थी.

साधुओं के निवास स्थान (वसति) तथा उपाश्रयों में भी विद्याध्ययन हुआ करता था. ऐसे स्थानों पर वे ही साधु अध्यापन के अधिकारी थे जिन्होंने उपाध्याय के समीप रहकर प्राचीन शास्त्रों के अध्यापन की शिक्षा प्राप्त की है.^१

सत्य तथा ज्ञान के परीक्षण के लिये प्रायः वाद-विवाद हुआ करते थे. वाद-विवाद करने के लिये बड़े-बड़े संघ (वाद-पुरिसा) हुआ करते थे जहां जैन तथा अन्य साधु विशेषकर, बौद्ध साधु आकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषयों पर वादविवाद किया करते थे. यदि कोई व्यक्ति तर्क तथा न्याय में कमजोर पाया जाता था तो उसको किसी अन्य विद्या-केन्द्र में जाकर और अधिक अध्ययन के लिये प्रयत्न करना पड़ता था. वहां से अध्ययन समाप्त कर वह लौटता और अपने विरोधी को पराजित कर धर्म का प्रचार करता था.^२

ऊपर कही गई शिक्षण-पद्धति पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारतवर्ष में प्राचीन काल में वैदिक तथा बौद्ध शिक्षण-पद्धति के समान एक सुव्यवस्थित जैन शिक्षण-पद्धति भी थी. आजकल भारत के बड़े-बड़े नगरों में जैनधर्म और जैनदर्शन के अध्यापन के लिये जो प्रतिष्ठान चल रहे हैं उन पर पूर्ण रूप से इस प्राचीन जैन शिक्षण-पद्धति का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है.



१. 'लाइफ इन एन्शेन्ट इण्डिया' पृ० १७३-१७४.

२. बृहत्कल्पभाष्य, ४. ५४.२५, ५४.२६.